इस्तांबुल-१

स्तंभ/अनन्तर/जनसत्ता/१८ दिसंबर, २००६

बोस्फोरस के तट पर

ओम थानवी

इस्तांबुल की सर्द सुबह का कुहासा अभी पूरी तरह छंटा नहीं था। छह-आठ गज की दूरी पर बोस्फोरस का पानी ठहरा हुआ था। कभी कोई मालवाहक पोत पानी को चीरते हुए जरूर थोड़ी हलचल पैदा कर जाता था।

हम होटल के रेस्तरां में नाश्ते की टेबल पर बैठे थे। मैंने मीरवाइज मोहम्मद उमर फारूक से कहा- आपके तल्ख बयान पढ़ कर किसी के मन में एक बार आपकी शख्सियत खतरनाक आदमी की ही उभरेगी। मगर आप आदमी शरीफ मालूम पड़ते हैं।

मीरवाइज अनमने भाव से टेबल पर पड़ी छुरी को दोनों सिरों से नचा रहे थे। पतले चश्मे और काली कमीज पर चोकड़ी के खुले कोट में वे चरमपंथी हुर्रियत कांफ्रेंस के अध्यक्ष नहीं, किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी के होनहार अधिकारी ज्यादा नजर आते हैं।

एक मासूम मुस्कान उनके होठों पर कौंधी और अपनी चुप्पी में वे किन्हीं खयालों में खो गए।

हमारी मेज पर तीन शख्स और थे। 'कश्मीर टाइम्स' के संस्थापक वेद भसीन, पाकिस्तान के अखबार 'डॉन' के कार्यकारी अधिकारी हमीद हारून और वहां की पत्रिका 'न्यूज टाइम' की संपादक रेहाना हकीम। मीरवाइज की पेशोपस कोई भी लक्ष्य कर सकता था।

हमीद हारून का यों तो हरेक से दोस्ताना है, मगर मीरवाइज से उनकी खूब पटती है। मुझे याद है, पिछले साल एडीटर्स गिल्ड की एक गोष्ठी के दौरान हारून मीरवाइज को- जो जनरल मुशर्रफ से मिलने दिल्ली आए हुए थे- शाम को थोड़ी देर के लिए मैकदे में ले आए थे। मीरवाइज के कंधे पर हाथ रखते हुए हारून ने पहले मेरी तरफ देख कर कहा, उमर हैं ही निहायत शरीफ, इसमें किसी को क्या शक। फिर मीरवाइज से मुखातिब होकर चुटकी ली: उमर, कभी तुम्हारा मन नहीं करता कि यह सब छोड़ कर कहीं भाग निकलूं?

''करता है'', बगैर किसी दुविधा भरे स्वर के मीरवाइज के मुंह से निकला। मगर थोड़ा ठहर कर बोले, ''पर कश्मीर के लोगों का मसला बड़ा अहम है...!''

सब जानते हैं उमर विलायत में इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहे थे जब बड़े मीरवाइज, मौलवी मुहम्मद फारूक, को आतंकवादियों ने तब भून दिया जब उनका एक बयान उन्हें पाकिस्तान की बजाय भारत के समर्थन में जाता दिखाई दिया। बाद में उमर के चचा मौलवी मुश्ताक भी आतंकवादियों के हाथों मारे गए।

मजबूरी में झोली में आई मीरवाइज की पदवी इंजीनियर उमर के लिए पाकिस्तान और आतंकवादियों को खुश नहीं तो नाखुश न रखने की विकट मजबूरी है, यह सोचते हुए मैं शीशे के पार बोस्फोरस की तरफ देखने लगा, जहां अब इक्का-दुक्का नौकाएं दिखाई देने लगी थीं।

किसी संगोष्ठी में नाश्ते या चाय-पान के अंतराल में होने वाली गुफ्तगू की भले कोई व्यावहारिक अहमियत न हो, पर लोगों का मन टटोलने में वह कारगर भूमिका अदा करती है। दिल की बात अक्सर भीतर की बैठकों में नहीं, अंतराल के गलियारों में ही ज्यादा सामने आती है। वह चाहे दर्ज न हो, औपचारिक संवाद के उलझे तारों को समझने-सुलझाने में बड़ी मदद करती है; बशर्ते संभागी पेशेवर राजनेता या कूटनीतिक न हो!

थोड़ी बात, थोड़ी चीत

तुर्की की राजधानी अब अंकारा है, पर संस्कृति और वाणिज्य की धुरी अब भी इस्तांबुल है। यहीं पर भारत और पाकिस्तान के कुछ संपादकों के बीच यह एक संवाद था। क्षेत्रीय संदर्भ के बतौर तीन राजनेताओं या कार्यकर्ताओं को बुलाया गया था। उमर अब्दुल्ला पहुंच नहीं सके। अब्दुल्ला वंश के आदि प्रतिस्पर्धी मीरवाइज मौजूद थे। पाकिस्तान शासित कश्मीर से वहां के पूर्व प्रधानमंत्री सरदार कयूम खान आए थे। संगोष्ठी का आयोजन पैनोस दक्षिण एशिया नामक एक स्वयंसेवी संस्था ने किया था।

पैनोस के कार्यक्रमों में मैं पहले भी शिरकत कर चुका हूं। पहली बार पैनोस के निदेशक भारत के हैं। एएस पन्नीरसेलवन। वे खुद एक गंभीर पत्रकार रहे हैं। दिल्ली में कुछ अखबारों में काम करने के बाद चेन्नई में वे सन-टीवी के प्रबंध संपादक हो गए थे। इटली में कुछ साल पहले एक चर्चा में हम लोग साथ थे।

पन्नीर की मुश्किल निश्चय ही यह रही होगी कि इस नाजुक संवाद में उनके भारतीय होने की छाप की आशंका न रहे। शायद इसलिए वे खुद इसके संचालन से पीछे हट गए; नेपाल में 'हिमाल' के प्रतिष्ठित संपादक कनक मणि दीक्षित को उन्होंने यह जिम्मा सौंपा। दीक्षित ऐसे संचालन में लगता है पूर्वजन्म से दीक्षित हैं!

मीरवाइज और सरदार कयूम की बात में जानी-पहचानी चीजों के अलावा खास बात यह उभर कर आई कि दोनों कश्मीर की 'आजादी'

की मांग का कोई उजला भविष्य नहीं देखते। साफ-साफ शब्दों में दोनों में से किसी ने यह नहीं कहा, पर निहितार्थ यही ध्वनित हुआ।

सरदार कयूम ने कहा कि पाकिस्तान में उन्हें गलत समझा गया था जब उन्होंने कहा कि हमें अटल बिहारी वाजपेयी के हाथ मजबूत करने चाहिए। जबकि आशय महज यह था कि माहौल सुधारने की भारत की कोशिशों को आगे बढ़ाया जाना चाहिए। कयूम बोले कि माहौल में सुधार की कोशिशों में दिल से दिल की बात नहीं हो रही है। थोड़ी बेहतर कोशिशें होती हैं, बाद में उन पर पानी गिरा दिया जाता है। एक कश्मीरी मुहावरा उन्होंने याद किया: बकरी दूध देती है, पर साथ मींगनी भी मिला देती है। उन्होंने कहा, आजादी का विकल्प उपलब्ध नजर नहीं आता तो किसी और राह से आगे जरूर बढ़ना चाहिए।

मीरवाइज का नया बयान नहीं था कि कश्मीर के 'ज्यादातर' लोग 'आजादी' चाहते हैं। पर उन्होंने कहा कि हमें दूसरे विकल्पों पर भी सोचना चाहिए। दो चीजें उन्हें नागवार हैं। यथास्थिति का बना रहना और नियंत्रण-रेखा को स्थायी सरहद बना देना। पाकिस्तान को मीरवाइज ने अपनी बात में बराबर साथ रखा; 'दिल्ली के नेतृत्व' पर शंका प्रकट की, चुप रह कर इस्लामाबाद के रवैये को अलग रखा। हां, स्वस्थ संवाद को उन्होंने भी लाजिमी माना।

मीरवाइज ने यह तो माना कि कश्मीर में हिंसा घटी है, पर उसकी एक दफा भी निंदा नहीं की। इस पर मैंने कहा कि आपकी संवाद की चाह बजा है, पर हिंसा का हम तिरस्कार नहीं करते तो क्या यह अंतर्विरोधी आचरण नहीं कहलाएगा?

'हिंदू' के संपादक एन राम ने कहा कि हुर्रियत को अपना असर दिखाना चाहिए। वह 'रिएक्ट' करती है, 'एक्ट' नहीं करती। उन्होंने कहा कि समस्या को फिर से परिभाषित किया जाना चाहिए। मगर हल संविधान के तहत हो, हालांकि संविधान में संशोधन भी हो सकता है।

वेद भसीन ने कहा कि कश्मीर का मुद्दा यहां के लोगों की समस्या जरूर है, पर क्षेत्रवादी या भारत-पाक समस्या नहीं है। नागरिक अधिकार और अस्मिता बहाल हों यह जरूरी है। हिंसा इन्हीं के नकार की वजह से पनपी है। पर खयाल रखें कि जम्मू और कश्मीर के चरित्र में अनेकत्व है, जो बने रहना चाहिए। इसके लिए लोगों में विश्वास भरना होगा। सरदार कयूम ने उनकी बात की ताईद करते हुए कहा कि जम्मू-कश्मीर को एक मान कर चलना होगा, वरना नई समस्या ही खड़ी करेंगे।

मैंने लद्दाख की ओर ध्यान दिलाया। कहा जो चुप हैं, उनकी आवाज भी सुनी जानी चाहिए।

सरदार की मुझे यह बात दिल से निकली लगी कि आज गांधी जी जैसी शख्सियत नहीं है, जो पीड़ित इलाके के भीतर जाकर रह सके।

जब बैठक उठने लगी, कनक मणि ने एक सुझाव रखा कि क्यों न भारत और पाकिस्तान का मीडिया दूसरी तरफ के कश्मीर को महज शासित कश्मीर कहे। यानी भारत में लिखा-कहा जाय पाक शासित कश्मीर और पाकिस्तान में भारत शासित। अभी कश्मीर को पाकिस्तान में मकबूजा कश्मीर पुकारा जाता है; हम उधर वाले कश्मीर को पाकिस्तान के कब्जे वाला कश्मीर लिखते हैं।

एन राम सहित कुछ संपादक दीक्षित की राय से सहमत दीखे। असल में बीबीसी यह प्रयोग पहले से करता है।

मगर 'पाकिस्तान' के संपादक मुजीबुर्रहमान शामी का कहना था कि आजाद कश्मीर कहने में भी आखिर क्या हर्ज है। इस पर मैंने कहा कि आजाद कश्मीर का नामकरण अपनी बुनियाद में इस आग्रह से घिरा है कि दूसरी तरफ का कश्मीर गुलाम या परतंत्र कश्मीर है। सिनेमा से लेकर ध्रुपद तक मुझसे इत्तिफाक जताने वाले हमीद हारून यहां कुछ असहमत थे। मैंने कहा कि आजाद को आजाद कहने की जरूरत ही कहां पड़ती है; किसी आजाद राष्ट्र के नाम के आगे यह विशेषण नहीं जोड़ा जाता। बातचीत का स्वस्थ माहौल बनाने की गर्ज से इस तरह के गांठ बन चुके जुमले, कम से कम मीडिया में, छोड़े जा सकते हैं।

पाकिस्तान के सबसे ज्यादा असरदार माने जाने वाले 'जंग' के समूह संपादक महमूद शाम की इस बात से सबका इत्तिफाक था कि किसी भी समस्या के हल के लिए लोगों में विश्वास जरूर पैदा किया जाना चाहिए।

कुल मिलाकर सार्थक गोष्ठी रही। समस्याएं अपनी जगह होती हैं और हल की कोशिशें अपनी जगह। मगर इन दोनों के बीच, विभिन्न स्तरों पर, सामाजिक और बौद्धिक विमर्श की अपनी उपयोगिता है।

महमूद शाम ने सभी भारतीय संपादकों को पाकिस्तान का विशिष्ट अजरख वस्त्र भेंट किया। हमारे यहां भी यह वस्त्र बाड़मेर में छापे से तैयार किया जाता है। अब यह दिल्ली में फैब इंडिया तक पहुंच गया है।

जब सब संभागी अपने मुल्क लौटने लगे, मैं महमूद शाम- जो कुछ रोज तुर्की रुकने वाले थे- के पास गया और एक थैली उनके हाथ में सौंपी- 'यह भारतीय संपादकों की ओर से'! उन्होंने धीमे स्वर में पूछा, 'इसमें क्या है?' मैंने कहा, 'ओल्ड मंक! निपट हिंदुस्तानी उत्पाद!'...

उनकी आंखों में विनय और चमक एक साथ झलके।

चिनार वहां भी

कश्मीर पर चर्चा और इस्तांबुल में? किसी को इस पर हैरानी हो तो स्वाभाविक ही होगा। एक संपादक ने वहां पहुंच कर इसका सबब पूछा भी। आयोजकों का कहना था कि दोनों देशों की तरफ से सभी संभागियों को वीजा मिल पाना नामुमकिन होता है, इसलिए तीसरा मुल्क चुनना पड़ता है। पहले चर्चाएं नेपाल और श्रीलंका में आयोजित की जा चुकी हैं, इसलिए इस दफा थोड़ी दूर की जगह चुनी है।

इसमें एक वजह यह भी जोड़ी गई कि जगह में आकर्षण हो तो संगोष्ठी में काम की बात होती है और लोग भी ज्यादा आते हैं। दूसरी

बात निर्विवाद रूप से सच होगी।

इस्तांबुल वैसे भी संगोष्ठियों के शहर के रूप में लोकप्रिय हो गया है। यूरोप के और शहरों के मुकाबले सस्ता भी है।

मैंने दो कारण अपनी ओर से गिने। एक तो इस्तांबुल जोड़ने वाला शहर है; दुनिया में अकेला, जो पूर्व को पश्चिम से जोड़ता है। बोस्फोरस नामक जलीय दर्रा- जिसके यूरोप वाले किनारे पर हम बैठे हैं- काले सागर को भूमध्य सागर से जोड़ता है। खूबसूरत शहर के बीचोबीच बोस्फोरस पर बने विशाल पुल का दूसरा छोर एशिया में पड़ता है। यूरोप के हिस्से में बड़ी इमारतें और व्यावसायिक हलचल है। एशिया के हिस्से में शहर की ज्यादातर आबादी बसी है। पुल पर दो टोल नाके हैं। एक पर लिखा है- यूरोप में आपका स्वागत है। दूसरा एशिया में आपका स्वागत करता है। दो द्वीपों का यह भौगोलिक ही नहीं, सांस्कृतिक मिलन भी है। यही इस शहर को विशिष्ट बनाता है।

दूसरे, इस्तांबुल में चिनार बहुत हैं। जैसे हमारे कश्मीर में हैं। हालांकि तुर्की के चिनार कश्मीर के चिनारों से पतले और नाटे हैं। हकीकत शायद यह है कि हमारे यहां चिनार इसी दिशा से गए हैं। उनका उद्गम यूनान में हुआ। फिर मध्य एशिया में पहुंचे। भारत में माना जाता है कि उसे मुगल लेकर आए। कश्मीर की आबोहवा उसे बड़ी रास आई। वह इतना फला-फूला कि यूरोप के चिनारों से ज्यादा लंबा-तगड़ा हो गया। कश्मीर में चिनार का कद अस्सी फुट तक जाता है और घेरा पचास फुट तक। उसका तना चौड़ा और शाखाएं भी यूरोपीय चिनार से ज्यादा होती हैं।

बहरहाल, इसमें कोई शक नहीं कि इस्तांबुल निहायत खूबसूरत शहर है। जैसे छोटे शहरों में जैसलमेर और फ्लोरेंस। कस्बों में आविन्यों और आर्ल। वैसे ही बड़े शहरों में इस्तांबुल और लियों। अब तक की मुसाफिरी में प्रकृति और स्थापत्य के तालमेल के नजरिए से यह मेरा मोटा-सा हिसाब है। शहर दुनिया में बहुतेरे हैं। बड़े हैं, महान हैं; पर किसी पर पर्यटन की मार है, किसी पर गगनचुंबी इमारतों की। कहीं यातायात और भीड़ का शोर है तो कहीं गंदगी और अत्यधिक तरतीब का बसेरा।

इस्तांबुल पहाड़ भी है और मैदान भी। दो सागरों से घिरा है। बीच में बोस्फोरस का 'दर्रा'। दोनों किनारों पर लकड़ी-चूने के पारंपरिक घर और हवेलियां। आप यूरोपीय दिशा में हों या एशिया की तरफ, सामने का नजारा आंख झपकने नहीं देता। हर तरफ पेड़ ही पेड़ हैं। चिनारों के पीले पड़ गए पत्ते झर कर सड़कों पर पसरे हैं। पहाड़ी पर घरों के बेतरतीब- इसलिए मोहक भी- जमघट के बीच मस्जिदों की विराट मीनारें। इतनी भव्य और कलात्मक मस्जिदें दुनिया में शायद ही किसी और जगह होंगी।

यहां धूप दिन में कभी कड़ी नहीं होती। बड़ा शहर है, फिर भी हवा में सन्नाटा तारी रहता है। कभी-कभी मस्जिदों से आती अजान की तान ही इस सन्नाटे को भेदती है। या चौगान में चुग्गा चुगते पंछियों की आकस्मिक उड़ान। मीनारों के बीच से नीचे सरकता सूरज पहाड़ी की ओट होता है और ढलती शाम के बढ़ते सन्नाटे में शहर का मद्धम कोलाहल रह-रह कर कानों में टपकता अनुभव होता है। जैसे वह भी बोस्फोरस के ठंडे पानी में डूब और उतरा रहा हो। महानगर में बैठे यह बियाबान का लुत्फ है।

भले मानुष

तुर्की के लोग भले हैं। इस्तांबुल में आपको अगर यह अहसास हो तो गांवों-कस्बों का अंदाज सहज ही लगाया जा सकता है। हर दुकानदार आपको चाय के लिए पूछेगा, भले आप ग्राहक न हों और कोई जानकारी लेने या फिर रास्ता पूछने की जुगत में हों। चाय को यहां चाय ही कहते हैं और भारत से यहां यह कहीं ज्यादा 'राष्ट्रीय' पेय है।

तुर्की की कॉफी भी मशहूर है। यहां की चाय-कॉफी में दूध नहीं पड़ता, पर चीनी खूब बापरी जाती है। छोटे-से सुराहीनुमा कप में चाय परोसते हुए एक रेस्तरां में बैरे ने पूछा- हिंदुस्तान? मैंने हामी भरी तो बोला- क्या यह सच है कि आपके यहां चाय में दूध मिलाते हैं? मैंने कहा, कई जगह सिर्फ दूध में ही चाय मिलाते हैं। उसे लगा मैं मजाक कर रहा हूं। उसे इस पर और हैरानी हुई जब मैंने अपनी चाय की तश्तरी से शक्कर के पारे निकाल कर दूर कर दिए।

डायबिटीज? उसने पूछा। मैंने कहा, नहीं। दूध की तरह चीनी भी चाय के स्वाद का सत्यानाश करती है। वह सिर खुजलाने लगा।

सुना इस्तांबुल में खाना उम्दा मिलता है। 'सुना' इसलिए कि एक तो मैं शाकाहारी हूं ऊपर से लहसुन-प्याज नहीं खा पाता। खाने वालों ने बताया कि शाकाहारी खाने की भी यहां ढेर सारी दिलकश चीजें तैयार की जाती हैं।

समस्या के नाम पर किसी आगंतुक के लिए तुर्की में एक ही चीज है। लीरा। मुद्रा को लीर-लीर करते हुए एक यूरो (चौवन रुपए) दें तो उसके सोलह लाख लीरा मिलते हैं। टैक्सी चाहिए; तीन करोड़ लीरा। खाना खाया है; चार करोड़। आप क्षण भर के लिए अपने को करोड़पति समझ रहे हैं, पर हिसाब लगाने में होश हवा हो जाते हैं। इस झंझट से बचने का एक ही उपाय है कि पैसे की मुट्ठी दुकानदार के सामने कर दें- ले लो, जितना चाहिए। मतलब, जितना बनता है!

इस लीरे से छुटकारे के लिए सरकार ने इसी साल नया लीरा जारी किया है। धीरे-धीरे यह पुराने नोटों को चलन से बाहर करेगा। बाजार में अभी दोनों लीरा चलते हैं और चीजों पर भाव भी दोनों में लिखे होते हैं। पुराने से नए का सीधा हिसाब यह है कि पीछे से आप छह शून्य उड़ा दें।

पर्यटकों के जमावड़े वाले सुलतान अहमद इलाके में किताबों की कई दुकानें हैं जिनमें पारंपरिक तुर्की संगीत भी मिल जाता है। पर तुर्की साहित्य की किताबें वहां बहुत कम होती हैं। मुल्ला (तुर्की में 'होजा') नसरुद्दीन के तेनालीराम मार्का किस्सों की किताबें हर कहीं सजी मिलती हैं। हैरान हुआ कि नाजिम हिकमत तक की कविता इन दुकानों में रखने लायक नहीं समझी जाती, जबकि 'हिकमित' को हर तुर्की लगा कि जानता है। बाद में एक बड़े बाजार में गया। वहां हिकमत की फ्रेंच में ग्रंथावली मौजूद थी, अंग्रेजी में नहीं!

हां, यिलमाज गूने की फिल्में– जिनका फिल्मकार मित्र अनवर जमाल ने खास तौर पर ध्यान दिलाया था– जरूर वहां मिल गईं। और नूरी बिल्जे चेलान की फिल्में भी, जो गूने के बाद कान उत्सव में चमके और मेरी समझ में गूने से बहुत आगे की फिल्में बनाते हैं। दोनों इस्तांबुल में रहते हैं। ज्यादा दिन रुका होता तो चेलान से मिलने की कोशिश करता।

इस बीच जो समय मिला वह इस्तांबुल के स्थापत्य को देखने में लगाया। वास्तुकला में यह शहर दुनिया में नायाब है। गुजरी सदी के विख्यात वास्तुकार ली कारबूजिए १९११ में, जब वे चौबीस बरस के थे, इस्तांबुल आए और यहां के स्थापत्य का गहन अध्ययन किया। उन्होंने यहां की इमारतों के सैकड़ों रेखांकन किए। अनेक चित्र जल-रंगों में भी। पर इसकी चर्चा अगली बार।